शिक्षा का सतत संकट

कृष्ण कुमार

मित्रो! मेरे लिए यह बड़े गौरव का विषय है और मैं इस अवसर के लिए आभारी हूं कि मुझे श्री अनिल बोर्दिया की स्मृति में बोलने के लिए कहा गया है। राजस्थान प्रौढ़ शिक्षण समिति और अन्य संस्थाएं जिन्होंने इस आयोजन को संभव बनाया है मेरे लिए हमेशा ही प्रेरणा और आदर के पात्र रहे हैं और मैं इस अवसर की गरिमा में कुछ योगदान कर सकूं यही मेरी आज कामना है। आज का विषय कुछ इस तरह से उभरा है रमेश जी और मेरे बीच बातचीत से कि आपको लगेगा कि शायद यह बहुत एक स्याह किस्म का विषय है - 'शिक्षा का सतत संकट'। दरअसल यह उतना स्याह नहीं है क्योंकि जब हम कोई चीज समझने के लिए निकलते हैं, भले ही वो संकट जैसी चीज हो तो समझने का आनन्द तो फिर भी मिलता ही है। और शिक्षा में सबसे बड़ी चीज यही होती है कि अगर वह समझ में हमारी मदद करती है, सहयोग करती है, समझ की प्रेरणा देती है तो फिर वो एक सार्थक प्रयास सिद्ध होती है।

श्री अनिल बोर्दिया का जीवन ऐसा आज हमारे सामने बोध कराता है जो शिक्षा के सतत संकट को समझने में भी हमारी मदद करेगा। जब कोई जीवन पूर्ण हो जाता है तो भले ही उस जीवन को जीने वाले की अनुपस्थिति हमें खलती है किन्तु वो जीवन हमें चिंतन के लिए उपलब्ध भी हो जाता है। और न केवल चिंतन के लिए बल्कि पूरी स्वतंत्रता से अन्य इस तरह के पूर्ण जीवन जीने वालों के साथ संवाद करने के लिए भी स्वतंत्र हो जाता है। और इसलिए मैं आज उन दो और लोगों को भी याद करते हुए यह व्याख्यान आपके सामने रख रहा हूं जो हाल के समय में हमारे साथ थे और अब नहीं हैं। और दोनों ही आज के इस विषय को आगे बढ़ाने में हमारी मदद करेंगे। श्री अनुपम मिश्र, जिन्होंने राजस्थान पर मौलिक शोध करके दुनिया को प्रकृति का महत्व समझाया और स्वयं उसके रहस्य को समझ सके और प्रोफेसर यशपाल जो अभी एक ही महीने पहले दिवंगत हुए और शिक्षा के क्षेत्र में उन सभी लोगों के साथ जिनमें अनिल बोर्दिया भी शामिल हैं उन्होंने एक बड़ा व्यापक संघर्ष और प्रयास किया। ये सभी जीवन उस अर्थ में पूर्णता लिए हुए हैं जिस अर्थ में मैंने आपसे कहा कि जब ये जीवन पूर्ण हो जाते हैं तब ही वो मुक्त संवाद के लिए उपलब्ध होते हैं। तब हम उनके साथ एक नई तरह से जी सकते हैं। और उस तरह का संवाद कर सकते हैं जैसा शायद उनके जीवन काल में उनसे नहीं कर सकते थे या उनके साथ काम करने वाले अन्य लोगों के साथ संभव नहीं बना पाते थे। भौतिक परिस्थितियां बीच में आती थीं, कई और चीजे होती थीं इसलिए यह विषय मेरे लिए एक विशेष चुनौति लिए हुए उभरा है कि मैं शिक्षा के सतत संकट को किसी हद तक समझ का माध्यम बना सकूं, शिक्षा के बारे में समझ का माध्यम बना सकूं।

मुख्यतः आज के इस व्याख्यान में मेरी कोशिश रहेगी कि राज्य और समाज के बीच दूरी को माप सकूं। ये दूरी एक औपनिवेशि समाज में या उपनिवेश रह चुके समाज में जो औपनिवेशिकता से आज भी जूझ रहा है अनिवार्य रूप से होती है। दुनिया के जितने औपनिवेशिक समाज है जैसे कि अफ्रीका के या कि लातिन अमेरिका के, भारत जैसे दक्षिण एशिया के उन सभी समाजों में राज्य और समाज के बीच एक बड़ी दूरी

दिखलाई देती है। और ये दूरी कई तरह से टकरावों को जन्म देती है या टकरावों में ही अभिव्यक्ति पाती है। राज्य एक दिशा में जाता है समाज उससे टकराता है, समाज एक दिशा में जाता है तो राज्य उससे टकराता है। और अनेक अवसरों पर, अनेक प्रकार की हिंसा इस टकराव से उत्पन्न होती है, जो औपनिवेशिक समाजों में लगातार इकट्ठा होती रहती है और समय-समय पर ज्वालामुखी बनके फूटती है। एक तो यह पूरा विषय खण्ड है या एक दिशा है जिसमें में मैं कुछ समय खर्चूंगा और दूसरी तरफ इस दूरी और इस दूरी से उत्पन्न होने वाले टकराओं की ऐतिहासिक जड़ों को भी मैं टटोलना चाहूंगा जो कि हमारे जीवन में ही प्रकट होती हैं। हम किसी स्कूल में अगर एक-दो घण्टा भी खर्च करें तो वो प्रकट हो जाती हैं हालांकि वो जड़ें नहीं होती। जड़ों से पैदा हुआ पूरा वृक्ष होता है। तना होता है, उसके पत्ते होते हैं, उसके विषैले फल होते हैं, वो सब हम बच्चों की एक कक्षा में - कक्षा एक में, दो में खेड़े होकर थोड़ी देर में ही उन विषैले फलों का स्वाद चख सकते हैं, अगर हम प्रयास करें देखने का कि ये कक्षा ऐसी क्यों है। अक्सर हम मान लेते हैं कि यह कक्षा शिक्षक की कोताही की वजह से है या संचालनालय की कोताही की वजह से है। लेकिन दरअसल हर कक्षा, हर स्कूल उन विस्तृत ऐतिहासिक जड़ों का एक वृक्ष रूप ले चुका फल होता है। जो समाज में पसरी हैं और राज्य में पसरी हैं। राज्य के चरित्र में ही वो फैली हुई हैं। और इस तरह से वो स्वयं एक स्वतंत्र संरचना हैं, एक बहुत बड़ा ढांचा हैं जो हर अवसर पर प्रकट होता रहता है। तो उन जड़ों को कुछ टटोलना चाहूंगा।

और अततः मैं इस विषय पर भी कुछ समय लगाना चाहूंगा कि आज हम इस अवसर पर इस शब्द का प्रयोग करते हुए कितने सचेत हैं - 'संकट'। क्योंकि आमतौर पर संकट का मतलब होता है कि एक चीज जो गुजर जाएगी। हर संकट कुछ समय के लिए आता है जिन्दगी में। संकट आते रहते हैं और चले जाते हैं। और संकट के साथ एक शब्द जुड़ा हुआ है हमारे समाज में - 'मोचक'। तो ऐसे हर संकट का कोई न कोई मोचक होता है। स्वयं अनिल बोर्दिया मेरे जीवन के अनेक संकटों के मोचक थे। और आप सभी उनके इस संकट मोचक रूप से बहुत अच्छी तरह से वाकिफ थे। तो इसलिए ये जो संकट है जो मोचित नहीं होता और सतत बना रहता है। इसको संकट का नाम क्यों दें? ये भी मेरे लिए आज एक जिज्ञासा का विषय है। और मैं जरूर इस जिज्ञासा में कुछ जांच जोड़ना चाहूंगा कि ये कैसा संकट है जो न केवल बना हुआ है या बना रहा है। बल्कि जैसा कि होता है कि जब कोई संकट बना रहे तो वो बना नहीं रहता है बल्कि गहराता जाता है, फैलता जाता है। तो यह संकट जो एक लम्बे समय से बना हुआ है जिसका एक अच्छा-खासा, कोई डेढ शताब्दी का इतिहास है वो जब बहुत गहरा हो जाता है और हम उसकी गहराई को मापने में ही पूरा जीवन लगा दें तो भी कम रहेगा। जब ऐसी स्थिति आ जाती है तो जाहिर है हम सबको एक नई तरह की प्रतीति होती है कि हां, ये कोई सामान्य संकट नहीं है। और इसीलिए इसमें राज्य, समाज, संस्कृति, आर्थिकी इन सभी चीजों को जब हम जोड़ेंगे तो शायद हमारी समझ का विस्तार होगा। और हम अपने को, स्वयं एक बड़े इतिहास से जोड़ सकेंगे। और उस इतिहास क्रम में अपनी छोटी सी भूमिका को शायद बेहतर समझ सकेंगे। और उस तरह से अपने प्रयास की सार्थकताओं को एक ज्यादा बड़ा बोध दे सकेंगे। तो इस बड़े एजेंडा के साथ मैं इस व्याख्यान को एक छोटी सी घटना से जुड़ी हुई या घटना पर आधारित एक वृतांत या कहानी कह लिजिए उससे शुरू करना चाहूंगा।

आज से कोई आठ वर्ष पहले मुझे सर्वशिक्षा अभियान के मूल्यांकन के तहत कई राज्यों में कई-कई दिनों के लिए समय बिताने का अवसर मिला। श्रीमती अनीता कौल जो कि उस समय में एक महत्वपूर्ण पद पर थीं मंत्रालय में उन्होंने कई बार मुझे यह जिम्मेदारी सौंपी कि मैं जो एक संयुक्त मिशन होता है जांच का, सर्वशिक्षा अभियान के लिए था, उसमें रहूं और उस बहाने मुझे कई प्रदेशों में जाने का मौका मिला। उनमें से एक प्रदेश था हरियाणा जो अभी हाल में बहुत समाचारों में रहा है। उसके अनेक जिलों में ये जिला जो इस समय बहुत ही ज्यादा ख्याति प्राप्त कर चुका है -सिरसा। वहां भी मुझे जाने का मौका मिला और ये तमाम और जो जिले हैं जीन्द, कैथल और इन तमाम जिलों में काफी गहराई से तमाम गांवों में जाने का मौका मिला।

जाड़े का समय था, जनवरी की ठण्ड जो कि उत्तर भारत में काफी तेज होती है और दिल्ली से उत्तर के इलाकों में, दिल्ली में भी कोहरे के साथ आती है। तो जिन दिनों में मैं हरियाणा में घूम रहा था उन दिनों बहुत कोहरा था, ठण्ड थी और स्वयं मैं और हमारे जो अधिकारी अन्य साथी थे वो कार में जो गर्म हवा का इंतजाम होता है उसके बावजूद

कपड़ों से लदे हुए इधर से उधर गांव में घूम रहे थे और जा-जाकर जो भी जायजा संभव था 8-10 में लेना वो ले रहे थे। ऐसे में एक गांव जहां हमें लगभग दो बजे पहुंचना था वहां हम लोग दो बजे किसी भी हालत में नहीं पहुंच सकते थे क्योंकि हम लोग जिस गांव से आ रहे थे वहां से उस गांव की दूरी तय करने में हमारी कार को बहुत ज्यादा समय लग गया। जितना अनुमान न ड्राइवर को था न आयोजकों को था। इसलिए क्योंकि रास्ते में बहुत घना कोहरा था। तो उस हिसाब से देखें तो हम लोगों को पहुंच जाना चाहिए था। बहुत से बहुत दो नहीं तो तीन, चार बजे तक बाकायदे यह संभव नहीं हुआ और अन्ततः हम लोग कोई साढे पांच बजे उस गांव में पहुंचे। जहां सुबह से हम लोगों के आने की प्रतीक्षा थी या कह लिजिए तैयारी थी। और जिस संस्था को हमें देखना था- सर्वशिक्षा अभियान के सिलसिले में सरकार के द्वारा बनाई गई जो सबसे बेहतरीन संस्थाएं हो सकती हैं उनमें से इस संस्था का नाम आता है, कम से कम मेरी दृष्टि में, ये जो लगभग उस समय सौ रहा करते थे, सौ स्कूल ऐसे होते थे। उनमें से एक था कस्तूरबा बालिका विद्यालय - केजीबीवी- इसका नाम है, योजना का नाम है। तो यह एक केजीबीवी था जहां पर इस कस्तूरबा बालिका विद्यालय में जहां लगभग सौ लड़कियां जो कि शिक्षा व्यवस्था से बहिस्कृत हो चुकी हों या फिर कभी न पढ़ी हों। ऐसी लड़कियों को बाकायदे सब सुविधाएं देकर, एक हॉस्टल में रखकर उनके लिए कक्षा 6, 7, 8 की शिक्षा का प्रबंध किया जाता था। अभी भी किया जाता है। पर इस समय वो योजनाएं बहुत स्वस्थ स्थिति में नहीं हैं जैसी कि हुआ करती थीं उस समय। तो खैर हरियाणा में आम तौर पर बहुत ही अच्छा पूरा इंफ्रास्ट्रेक्चर है और तमाम चीजें। तो ऐसे में जाहिर है कि ये जो कस्तूरबा बालिका विद्यालय हैं इनकी परिस्थितियां भी बहुत और राज्यों से बेहतर हैं। तो देखने के लिए यही था कि हां जाकर के स्कूल देखें कोई समस्याएं तो नहीं हैं। और उसका भी थोड़ा बहुत जायजा लें, मूल्यांकन करें। इस लिहाज से ही वह स्कूल चुना गया था कोई विशेष कारण नहीं था। अन्त में जब हमारी कार उस स्कूल में पहुंची, कोहरे के बीच में, अचानक कोई चार लड़कियां हम लोगों को दिखलाई दीं जो कि स्कूल के फाटक पर जहां पर एक बन्धनवार बना हुआ था और फूलों से और तमाम झण्डियों से सजा हुआ था। उसके बाहर खड़ी हुई मिलीं और उनके पास एक थाली थी और थाली में अक्षत और हल्दी, दीपक और ये तमाम चीजें और फूल बहुत सारे। और उनके वस्त्र हम लोग जो पहने हुए थे जो भारी भरकम कोट और तमाम लबादे उनसे बिलकुल ही दूसरी दिशा में थे। बहुत ही कम वस्त्र बिल्कुल जैसे गर्मियों का मौसम हो। उस तरह के वो लड़कियां कपड़े पहने हुए थीं। और साधारण कपड़े नहीं थे ये जो कि स्कूल में पहने जाते हैं। ये जैसे कोई लोक गीत के लिए तैयारी चल रही हो उस तरह के कपड़े पहने हुए थीं। और जैसे ही मैं कार से उतरा तो मेरे ऊपर फूल फैकें गए और मुझे उस दिशा में आने के लिए कहा गया जिधर उनको मुझे तिलक लगाना था। और एक छोटी सी आरती जैसी उनको करनी थी। तो मैं काफी घबरा गया। वैसे भी मैं सारे जीवन औपचारिकताओं से घबराता रहा हूं। मेरे होम्योपैथ डॉक्टर इसको भी एक लक्षण ही मानते हैं। आज भी मैं थोड़ा बहुत उन लक्षणों का शिकार हुआ हूं। तो मेरे साथ जो सर्वशिक्षा अभियान के हरियाणा के स्टेट कोर्डिनेटर थे, उन्होंने मेरा पशोपेश एकदम देखा कि यह आदमी दिल्ली से आया है और यही मुख्य मूल्यांकक है और यह घबराया हुआ है। तो ये कैसी रिपोर्ट बनाएगा। तो मेरे साथ वो दो कदम चले। मैंने कहा कि नहीं नहीं आप निकलिए इस सबसे, कहां हम लोग तिलक लगवाएंगे और आरती उतरवाएंगे। हम लोग अन्दर चलें, समय इतना वैसे ही लेट हो चुका है। तो हमें वहां जो उस केजीबीवी की प्रभारी थीं उन्होंने बताया कि ये लड़कियां दरअसल ग्यारह बजे से खड़ी हुई हैं और वैसे तो आपको दो बजे आना था बीच में लगातार मोबाईल पर संपर्क भी बना रहा है लेकिन ये मानी नहीं हैं और ये लगातार यहीं गेट पर खड़ी रही हैं। इसलिए मेहरबानी करके आप जो भी ये करना चाहती हैं वो करवा लिजिए। अब काफी ये आप समझ सकते हैं कि एक मानवीय, आधिकारिक, संस्थाई हर तरह का संकट था ये कि आप कैसे इस स्थिति से गुजरें और आपके मूल्यों और उनके मूल्यों के बीच कोई नए मूल्य बनेंगे। इस उम्मीद के साथ जो भी हुआ मैं जितने भी तेज कदमों से वहां से गुजर सकता था अन्दर पहुंचा, जो भी हुआ। लेकिन हमारे जो सर्वशिक्षा अभियान के अधिकारी थे उन्होंने मेरा यह संकट भांप लिया और फिर उन्होंने इसको समेटने के लिए एक वाक्य बोला जो मुझे आज के इस व्याख्यान को एक आकार देने का काम करता हुआ नजर आया। वो वाक्य यह था, 'सर ये इन लोगों की संस्कृति है।' कई साल हो चुके हैं लेकिन यह वाक्य मुझे अभी भी बड़ा ऐसे अवसरों के लिए मौजूं भी लगता है और विश्लेषण के लिए उकसाता भी है। इस वाक्य पर विचार थोड़ा करें कुछ देर। एक तो इसमें दो चीजें हैं। एक तो जाहिर है कि यह संस्कृति को पहचानने का दावा करती है पर साथ

में जो इसमें पहला जुमला है कि ये इन लोगों की संस्कृति है, इससे आप घबराएं नहीं, या कि आप गुजर जाएं या कि इसको स्वीकार करें। और इसके संदर्भ में जो आपकी भूमिका बन रही है उसको भी स्वीकार करें और अपनी भूमिका को थोड़ा चैन से निभाएं। अगर ये आपका स्वागत करना इस तरीके से चाहती हैं तो आप करवा लें स्वागत, थोड़ा सा आपको अगर कष्ट होता भी है तो भी कर लें।

अब इसमें जाहिर कि ये तो एक भाव निहित है ही कि ये जो तरीका है ये इन लोगों की संस्कृति है और आपको जो पशोपेश हो रहा है ये आपकी संस्कृति है। या ये आपकी थोड़ी अलग बन चुकी एक शिक्षित व्यक्ति की, शायद एक पश्चिमीकृत व्यक्ति की या सरकार से जुड़े हुए एक व्यक्ति की ये घबराहट है जो कि समाज से थोड़ा ऊपर निकलकर आपका अस्तित्व दर्शाती है। इसमें ये जो इन लोगों और आपके बीच का अन्तर है उसको भी पाटने की कोशिश उस अधिकारी ने उस क्षण में इस वाक्य के जरिए की। पर इसमें अपनी भी एक पहचान शामिल है। कि ये लोग जो दरअसल उसी के राज्य के लोग हैं, ये उसके लिए इन लोगों में गिने जाते हैं। यानी कि ये वो लोग हैं जिनमें अब मैं शामिल नहीं हूं। क्योंकि मैं यानी कि वो अधिकारी या कोई भी अधिकारी जब एक बार किसी अधिकारी बनाने वाली परीक्षा में पास हो जाता है तो उसकी एक अलग हैसियत भी समाज में बनती है, उसकी एक पहचान भी अलग बनती है और उसके इस अलगाव को समाज भी पहचानता है। और इसलिए समाज में तरह-तरह की ऐसी व्यवस्थाएं हम देखते हैं जिनके जरिए ऐसे व्यक्ति का सम्मान होता है। और माना जाता है कि हां, हमारा लड़का उसमें निकल गया। किसी जिले में या किसी गांव से कोई अधिकारी बनके निकला तो ये जो शब्द है हिन्दी का 'निकला' उसकी व्यंजना पूरी तरीके से हमें बताती है कि जब कोई व्यक्ति समाज से निकलकर राज्य के ढांचे का अंग बन जाता है तो हम इस शब्द का प्रयोग करते हैं कि वो हमारे बीच से निकला हुआ व्यक्ति है। अब वो संचालनालय में या सचिवालय में बैठता है और हमारे अनेक काम जो कि राज्य में किसी न किसी वजह से अवरुद्ध रहते हैं, रुके पड़े होते हैं, उनको करवाने की उसमें शक्ति आ जाती है। उनमें वो थोड़ा धक्का लगा सकता है क्योंकि वो हममें से निकल चुका है। हमारी उसको याद है और हमसे एक सहानुभूति रखता है। तो इसमें जो अधिकारी जिसने ये वाक्य बोला और हमारी बहुत मदद की उसने आज के इस पूरे विषय को आगे बढ़ाने में। उसकी अपनी पहचान भी इसमें निहित है।

अब इसमें समाज के ऊपर भी कुछ प्रकाश डालें या सोचें कि ये जो संस्कृति है वो क्या है? जिसको वो चिन्हित कर रहा है ये कह कर कि ये मेरी या आपकी भले ही न रह गई हो लेकिन ये इन लोगों की संस्कृति है। क्या संस्कृति है? तो उस संस्कृति की व्याख्या करने में हमको कई कष्ट होंगे, कई जगह शायद हमें थोड़ा-सा पशोपेश भी हो। लेकिन फिर भी विश्लेषण की खातिर, समझ के आनन्द की खातिर हमको करना चाहिए। ये जो पूरा आरती का इंतजाम है जो किसी अधिकारी के लिए होता है। इसमें जाहिर है कि अधिकारी में देवत्व की स्थापना का एक अनुमान होता है या कह लीजिए आप उसका एक प्रतीकात्मक अरमान होता है या प्रतीकात्मक प्रयास होता है। जैसे हम किसी देवता की प्रार्थना करते हैं और देवता की आरती उतारते हैं उन्हीं प्रतीकों से जैसे कि हल्दी है, या कि चावल है, दीपक है, घण्टी है ऐसी ही चीजों से करते हैं। कोई वीर युद्ध में जाता हुआ मध्ययुग में, प्राचीनकाल में कहते हैं कि इस तरह की आरती का एक पात्र बनता था। क्योंकि लगता था कि शायद ये समर्पण के लिए जा रहा है अमर हो जाएगा, मर करके। इसलिए आखिरी बार इसको इस तरह से पूज रहे हैं, उसमें भी एक देवत्व की स्थापना संभव थी। तो एक पूरा प्रतीक विधान बनता है इस तरह के स्वागत का और पुष्प वर्षण से तो बनता ही है। क्योंकि वैसे अगर आप प्राचीन ग्रंथों को पढ़ें तो पुष्प वर्षा के योग्य तो देव ही होता है। और वो पुष्प लड़कियां नहीं बरसातीं बल्कि और देवता ही बरसाते थे। लेकिन ये जो पूरा प्रतीक विधान है ये किस तरह एक स्कूल में पहुंच जाता है और वो भी एक ऐसा स्कूल जो कि नवाचार के लिए बनाया गया है। इस सबको जब आप एक साथ रखते हैं तो फिर कई और प्रतीक भी दिखाई देने लगते हैं। जो कि इस स्कूल की अपनी विडम्बनाओं को, दुविधाओं को हमारे सामने थोड़ा सा खोलते हैं। जब स्कूल में आने वाले किसी ऐसे आगन्तुक का जिसके पास राज्य की दी हुई कोई हसियत है या शक्ति है, जब ऐसा व्यक्ति किसी स्कूल में पहुंचता है और वो भी इस उद्देश्य के साथ कि वो स्कूल का जायजा लेगा, मूल्यांकन करेगा या जिसको सौ-डेढ सौ साल से यह शब्द चल रहा है दौरा करेगा। तो दौरे का आशय ही होता है, 19वीं के अगर आप दस्तावेज पढ़ें तो तभी से दौरे का आशय उभर आया था कि दौरे के दौरान उसको किसी भी तरह स्कूल का यथार्थ

न नजर आ जाए। इसका इंतजाम करना, ये स्कूल के शिक्षकों और उसके प्रभारी जो प्रधानाध्यापक होते थे उनकी जिम्मेवारी होती थी, जो कि लगभग 1870 तक लगभग तय हो चुकी थी। एक बार प्रसिद्ध गांधीवादी चिंतक, शिक्षक स्वर्गीय मार्जरी साईक्स ने मुझे बहुत ही संक्षेप में यह अंतर समझा दिया था कि एक उपनिवेश बनाने वाला देश और एक उपनिवेश बने हुए देश में क्या अंतर होता है। क्योंकि वो ब्रिटेन में पैदा हुई थीं और गांधी जी के प्रभाव में आकर के भारत आकर भारतीय नागरिक हो गई थीं। तो उनको दोनों संस्कृतियों का, दोनों सभ्यताओं का पूरा-पूरा अंदाज था। तो एक बातचीत में, उन्होंने जब वो बहुत ही वृद्ध हो चुकी थीं। मुझे बहुत संक्षेप में समझाया था इंग्लैण्ड और भारत में यही फर्क है। कि ब्रिटेन में जब- और उनकी स्मृतियां 1920-25 की ही थीं उसके बाद तो वो यहां आ गई थीं- कि ब्रिटेन में जब कोई इंस्पेक्टर दौरा करता है स्कूल का तो उस स्कूल का हैडमास्टर छत में जहां-जहां कोई छेद हो टीन की छतें पहले वहां भी होती थीं। उन छेदों के इर्द-गिर्द चॉक से एक घेरा बना देता है जिससे इंस्पेक्टर को साफ दिख जाए कि इस छत में इतने छेद हैं। और अगर फर्श पर कहीं गड्डे बन गए हों पिछली बारिश में, पिछले जाड़े में तो उन गड्डों के इर्द-गिर्द भी वो चॉक से घेरा बना देता है जिससे चलते समय वो देख ले कि हां भाई इस स्कूल में इतने गड्डे हैं और नोट करके ले जाए जिससे वो ठीक से बाद में भरे जा सकें और भी कोई टूटी-फूटी चीज हो तो उसको भी अलग से निकाल के रख दिया जाता था जिससे वो देख ले। वो बोली जब भारत में कोई इस तरह से निरीक्षक आता है तो जहां-जहां छत में छेद होते हैं उनको या तो ऊपर से नहीं तो नीचे से इस तरह बन्द कर दिया जाता है कि वो यह नहीं देख सके कि यहां छत में छेद हैं और फर्श पर अगर गड्ढे हैं तो उनके ऊपर एक गलीचा बिछा देता है। जो भले ही गांव में न मिले तो बगल के कस्बे से किराये पर लिया जाता है। और भी जो चीज अगर कोई किताबें फट गई हैं या टूटी-फूटी कोई चीज है तो उसको अलमारी में उस दिन बन्द कर दिया जाता है। तो जहां, जिसको आजकल हम विकसित देश कहते हैं, जहां उनकी विरासत शिक्षा में यह है कि दौरे का अर्थ है कि स्कूल के विकास के लिए उसके यर्थाथ को दिखाया जाए जिससे वो सुधर सके। वहां एक उपनिवेश बने हुए समाज में ये व्यवस्था है कि स्कूल के यर्थात को आने वाला अधिकारी देख ही न सके। पर ऐसा क्यों है इसका कारण यही है कि अधिकारी का मन भांपने की क्षमता नहीं होती है शिक्षक में कि अधिकारी उन चीजों को अगर देख लेगा तो कहीं ऐसा न हो कि मुझे ही या मेरी एसीआर ही खराब कर दे। या मेरे ऊपर ही इसका दोष डाले कि तुम अपने स्कूल में इतना भी नहीं करा सके सामुदायिक सहयोग से जो कि आजादी के बाद से लगातार एक बढाया जाता हुआ विचार रहा है कि अध्यापक या प्राधानाध्यापक का काम है कि वो छोटी-मोटी समस्याओं के लिए सरकार की बाट ना जोहे बल्कि वो सामुदायिक प्रयास से उन चीजों को ठीक करवा ले। तो इसलिए जो अधिकारी से दुराव है स्कूल की संस्था के अध्यक्ष में या उसके शिक्षक के मन में। उस दुराव के पीछे कोई भाव है तो वो वही है जो कि आज हमने जो प्रार्थना गाई, उसकी पहली पंक्ति में ही उस दुराव का निषेध है। भय है। उसको डर लगता है। भले ही वो स्वयं सरकार का अंग है, सरकारी शिक्षक है, सरकारी प्राधानाध्यापक है जो भी है लेकिन उसको इस बात का डर लगता है कि अधिकारी मेरे यथार्थ को देखकर कहीं मुझको ही उसके लिए दोषी ना ठहरा दे। तो इस कारण से वो उस यथार्थ को उजागर नहीं करना चाहता। हर संभव तरीके से उसको ढांपने की कोशिश करता है। तो ये जो पूरा संवाद था उस कस्तूरबा बालिका विद्यालय के ठीक गेट पर, सामने होने वाला संवाद उसमें ये वाली अनुगूंज भी बड़ी महत्वपूर्ण थी कि जो भी आप यहां करेंगे इस बात का अहसास आप में है कि आप में ताकत है और इसलिए आप में देवत्व की स्थापना कर दी जाए, कम से कम आज दोपहर तो ये कोई बुरी बात नहीं है। तो ये जो इसमें इन लोगों की संस्कृति का भान है ये एक ताकतवर अधिकारी का ही संकेत देता है कि उसको ऐसा लगता है। अब ये जो चिह्न हैं इनका प्रयोग कौन कर रहा है? इसको आप देखें अगर तो वो बालिका विद्यालय था, अगर बालिका विद्यालय ना भी होता। मान लीजिए एक सामान्य विद्यालय भी होता तो भी आप मान के चलें कि ये जो काम है आगन्तुक का स्वागत करने का और वो भी इस तरीके से स्वागत करने का, ये काम इक्कीसवीं सदी में भी लड़कियों का ही है, ये लड़के नहीं कर सकते। खैर इस स्कूल में तो लड़के थे ही नहीं। तो लड़कियां होंगी और वो करेंगी स्वागत अधिकारी का। उसमें देवत्व की स्थापना करेंगी और कोई गीत अगर गाना होगा तो वो भी गाएंगी। ये सारी चीजें स्कूल की संस्कृति में आज से सौ वर्ष से भी पहले से शामिल हो चुकी थीं और शामिल हैं आज तक। पर इसमें जो कपड़ों का सवाल है वो मुझे आज भी थोड़ा-सा तकलीफ देता है कि वो विद्यालय जो कि लड़कियों में हीनता बोध को दूर करने के लिए स्थापित

हुआ है, वो विद्यालय भी इस बात से चिंतित नहीं है कि ये लड़कियां पांच-छह घण्टा ठण्ड में खड़ी रहेंगी और वो भी बहुत कम कपड़े पहनकर, जिसमें ऊनी कपड़ा एक भी नहीं होगा। वो उसके बाद बीमार पड़ेंगी या क्या होगा इसकी चिंता स्कूल को नहीं है। उनका एक लड़की के रूप में यहां प्रयोग हो चुका होगा यही संतोष का विषय है। क्योंकि वो काम लड़कियां ही कर सकती हैं। तो उनको होने वाला कष्ट, ये तो खैर इस मामले में तो हम कह सकते हैं कि हमारी जिस चीज को उन्होंने इन लोगों की संस्कृति कहा उसमें इस तरह की बाल केंद्रित सोच के लिए बहुत जगह नहीं है कि बच्चों को तकलीफ ना हो। ये तकलीफ तो 15 अगस्त को लाल किले पर भी बच्चों को होती है जब सुबह चार बजे से उनको खड़ा किया जाता है वहां पर। या 26 जनवरी के लिए जो आयोजन होते हैं इस तकलीफ को राज्य एक तरीके से, राज्य के प्रतिनिधि एक तरीके से एक ऐसी चीज मानते हैं जिसकी ओर ज्यादा तवज्जो देना जरूरी नहीं है और उसकी क्या कीमत घरों में और समाज में, बच्चों की उस तकलीफ की वजह से चुकाई जाती है यह भी राज्य की चिंता का विषय नहीं है। क्योंकि ये हमारे इन संबंधों की संरचना में शामिल है और इस वजह से हमें ये चीजें दिखलाई ही नहीं देती हैं। तो अगर इस पूरे आख्यान को हम समेटें जो कि मैंने आपके सामने इस वाक्य की मदद से खोलने का प्रयास किया और उस स्मृति को किसी हद तक उसका बिम्ब बना के आपके सामने रखने की कोशिश की तो इसमें अब आप दोनों पक्षों को समझ सकते हैं राज्य और समाज। और इनके बीच की दूरी को माप भी सकते हैं। ये राज्य आज जिसमें हम जीते हैं और जिसके परिष्कार का प्रयास हमारा लोकतंत्र आज भी कर रहा है। ये राज्य हमारे संघर्ष से बना हुआ राज्य नहीं है, ये राज्य हमें बना-बनाया मिला। उस अर्थ में हमें, हमसे आशय है वो जो कि आजाद हुए, आजादी के बाद पैदा हुए मेरे जैसे लोग, हमें तो यह बना-बनाया ही मिला और बनाया किसने? ये बनाया उन्होंने जिन्होंने हमें उपनिवेश बनाया। उन्होंने इसके कानून बनाए, उन्होंने इसका ढांचा बनाया और हमारे साथ मिलकर ही बनाया। ठीक है इसमें दमनचक्र भी शामिल था, इसमें दोहन और शोषण की शक्तियां भी शामिल थी, लेकिन भारतीय समाज पर शासन करने के लिए यहां आई हुई औपनिवेशिक शक्तियों ने इसका निर्माण किया और हमने इस राज्य को आजादी के बाद कुछ नए उपकरणों, कुछ नए उपचारों के साथ एक नई दिशा में मोड़ने का प्रयास किया। बहुत संक्षिप्त-सा इतिहास है, भारत का सामाजिक इतिहास। अगर इस तरीके से उसको आप देखें। तो ये जो राज्य बना और जो थोड़ा बहुत इसका सुधार भी हुआ, परिष्कार भी हुआ। जो केवल प्रशासन के लिए था वो बाद में विकास के लिए भी इस्तेमाल हुआ और आज विकास का नारा एक तरीके से दुबारा लौट आया है। ये जो बीच की पीढ़ी थी अनुपम मिश्र, मेधा पाटकर की इसने विकास की समीक्षा की। विकास शब्द पर ही कई प्रश्न चिह्न लगा दिए। लेकिन वो प्रश्न चिह्न आज जैसे पुछ से गए हैं और आज हमें लगता है कि विकास अब एक विवादास्पद प्रश्न नहीं है। विकास का मतलब ही है कि आप जब दाखिल हों जयपुर में तो आपको वर्ल्ड ट्रेड सेन्टर नजर आए और उसका जो प्रतीक विधान है वह हमारे लिए विकास का प्रतीक बन चुका है। तो उस अर्थ में देखें तो राज्य ने विकास का जो रास्ता अपनाया उससे राज्य की मूल संरचना का न तो कोई खास परिष्कार हुआ, न शायद कोई बहुत विस्तार हुआ। भले ही औपचारिक रूप से राज्य ने समाज के करीब आने के लिए अनेक प्रकार के विधान रचे, अनेक प्रकार के उपचार किए और कोशिश की कि राज्य और समाज के बीच की दूरी कुछ पटे। लेकिन राज्य का जो मुख्य चरित्र है जो हम उन दो शब्दों में देखते हैं 'इन लोगों' की। ये चरित्र तो औपनिवेशिक काल में बन चुका था। क्योंकि जो प्रशासक था वो वैसे भी यहां का नहीं था। जो बड़ा प्रशासक था। तो जो बीच का प्रशासक था वो यहां का था, उसने उस बड़े प्रशासक की शैली अपनाई और वो आज भी है कि जब हम प्रशासन में शामिल होते हैं और शासन करने के लिए औपचारिक रूप से पात्र बना दिए जाते हैं तो हमें वो लोग जिनके बीच में से हम आए थे, अपने से बेगाने लगने लगते हैं। और बेगानापन एक ऐसी स्थिति होती है, जिसको बहुत बड़े दार्शनिक, बहुत बड़े चिंतक भी ठीक से व्याख्यायित नहीं कर पाते हैं। साहित्य ही कर पाता है। बेगानापन अपने-आप में साहित्य का ही विषय रहा है आधुनिक साहित्य का तो बहुत बड़ा विषय है। कविता, कहानी के जरिए वो कैसे प्रगट होता है, जैसे मुक्ति बोध ने 'अंधेरे में' कविता में इस बेगानेपन को ही चिह्नित किया है। या कि अगर आप कमलेश्वर की 'दिल्ली में एक मौत' याद करें तो वो उस बेगानेपन को ही चिह्नित करती है जो कि आधुनिक समाज की एक बहुत बड़ी कमजोरी या विशेषता जो भी आप कहें वो है। राज्य में यह अनिवार्य रूप से मौजूद है। इसके पीछे राज्य का कुछ एक शास्त्रीय पक्ष भी है। मैक्स वेबर ने भी समझाया था कि भई राज्य की संरचना में तो निर्वैयक्तिकता ही होनी चाहिए। तब वो सब वर्गों के साथ न्याय

कर सकता है। जो नौकरशाह है या अधिकारी है। वो तभी एक समदर्शी बन सकता है जब वह सिर्फ नियमों से चले और उसमें निर्वैयक्तिकता हो। अब ये जो निर्वैयक्तिकता है ये किस तरह हमारे समाज में प्रकट हो पाती है? ये अपने-आपमें कई दिशाओं में सोचने का हमें एक जरिया देता है। क्योंकि जो हमारे किसी गांव से या मौहल्ले से निकला हुआ व्यक्ति है अगर वो पूरी तरह निर्वैयक्तिक बिलकुल मैक्स वेबरियन अधिकारी बन गया तो फिर हमारी खबर कौन लेगा। तो इसलिए अधिकारी पूरी तरीके से निर्वैयक्तिक नहीं बन सकता हमारे समाज में। उसको अपने लोगों की कुछ न कुछ जरूरतों का ध्यान करना पड़ता है और वैसे भी अगर आप किसी ऑफिस में इधर-उधर टक्करें मार रहे हैं तो कोई न कोई मिलेगा जो कहेगा अरे भई वो जो अपने माथुर जी हैं ना 102 नम्बर कमरे में उनसे आप सलाह ले लो। क्योंकि वो हमारे यहां के हैं तो वो पूरी तरह से निर्वैयक्तिक नहीं हो सकता। समाज के भीतर जो एक गांवपन या गांवत्व की एक गहरी विरासत है जो कि भारतीय समाज को भारतीयता देती है। जिसमें अपने को याद रखने की एक बड़ी महत्वपूर्ण आप कह सकते हैं कि एक व्यवस्था है। और कोई कितना ही बेगाना हो जाए फिर भी उसकी जिम्मेदारी बनती है कि वो अपनों को पूरी तरह न भूल जाए भले ही वह अपनों के बीच में से निकल गया हो। इसलिए साहित्य का एक बहुत बड़ा हिस्सा इस पीड़ा पर भी है। आधुनिक हिन्दी साहित्य का तो बहुत ही बड़ा हिस्सा है शायद सबसे बड़ी कृति इस तरह की 'आषाढ़ में एक दिन' ही है, जिसमें कश्मीर का राज्य अधिकारी बना दिए जाने के बाद कालीदास उज्जैयनी लौटते हैं और एक-एक चीज से उनके आंसू निकल रहे हैं, देखकर के। लेकिन अब वो अलग हो गए हैं उससे। और इस पीड़ा को बहुत से और लेखन में आधुनिक साहित्य में अभिव्यक्ति मिली है। ये राज्य और समाज के संघर्ष को समझने में हमारी मदद देती है कि भारत के जैसे समाज में राज्य की पैठ अंततः जिन प्रतिनिधियों या जिन चेहरों के जरिए होती है, जो उसके चिह्न हैं। तो क्या नजारा बनता है? वो ही नजारा था जो उस केजीबीवी के दरवाजे पर बना। इन लोगों की संस्कृति है इसको थोड़ी देर के लिए बरदाश्त कर लीजिए। शिक्षा ने आपको इससे उबार लिया है। लेकिन इन लोगों का जीवन इसी में चलता है और इनके जो मूल्य हैं उनको भी बहुत ज्यादा कष्ट से मत झेलिए आराम से झेलिए। क्या मूल्य हैं? एक तो जाहिर हैं कि समाज के अपने तमाम मूल्य हैं उनमें से एक मूल्य यह भी है कि जो अपने से ज्यादा ताकतवर है उसको उसकी ताकत का बोध कराते रहो। क्योंकि समाज के भीतर एक लम्बा इतिहास है। सामंती संस्कृति में जी सकने का। एक आम किसान या एक भूमिहीन व्यक्ति आखिर कैसे जीता होगा एक ऐसे समाज में जिसमें बहुत, बहुत ताकतवर लोग, जिनकी उससे कई गुणा ताकत थी। सब तरह की संपन्नताओं के बीच जीते थे। कोई औरत कैसे जीती होगी ऐसे समाज में जिसमें सारी भूमिकाएं पुरुषों की ही थीं। यानी ताकत की भूमिकाएं। तो वो उन परिस्थिति में बने हुए मूल्य समाज में हैं। राज्य इन मूल्यों से टकराता है, उनमें परिष्कार करना चाहता है। अपनी संस्थाओं का विस्तार करता है। कोशिश करता है अपनी संस्थाओं के जरिए कि वो उन मूल्यों को सुधारे या उन मूल्यों में कोई परिवर्तन लाए। और ऐसी स्थिति में राज्य और समाज का टकराव एकदम सामने आ जाता है। जहां राज्य बहुत ज्यादा दखल देता है वहां वो टकराव और भी ज्यादा सामने आ जाता है। भंवरी बाई को आज हम याद करते हैं उस टकराव के एक क्षण की हिंसा में। रूप कंवर को याद करते हैं और उस पूरे प्रसंग को याद करते हैं जिसमें राज्य अपनी पूरी वैधानिक शक्ति के बावजूद निर्बल सिद्ध होता है। और समाज का कुछ नहीं बिगाड़ पाता है थोड़ी-बहुत गिरफ्तारियां कर सकता है, लेकिन उसके बाद समाज अपनी राह पर लौट आता है। बल्कि उसकी प्रतिक्रिया और भी ज्यादा गंभीर रूप ग्रहण कर लेती है। रह-रहकर प्रतिक्रियावाद हमारे समाज में प्रकट होता है। हम प्रगति का जिसको प्रगति कहते हैं या कि परिवर्तन कहते हैं उसके दो कदम लेते हैं, उसके बाद तीन कदम पीछे आने के लिए विवश होते हैं। और ये जो सारी परिस्थिति है जो राज्य और समाज के बीच का द्वंद्व है, जो इस तरह से घटनाओं में कई बार एक संघर्ष का रूप ले लेता है, टकराव होता है, हिंसा होती है। बाकायदे पुलिस या सेना की मदद लेनी पड़ती है। जो राज्य के अपने अंग हैं। और इस तरीके से समाज में वो चीज बहाल होती है। जिसको आकाशवाणी बताती है कि आज कोई अप्रिय घटना नहीं घटी या कि औपनिवेशिक शब्दावली में लॉ एण्ड ऑर्डर कहते थे। यानी की कानून की व्यवस्था बनी हुई है।

विकास के रास्ते में या कि विकसित बनने के रास्ते में यह हमारी एक अनिवार्यता है, हमारी मजबूरी है या एक विचलन है। श्री अनिल बोर्दिया की स्मृति में आज हमें इस प्रश्न पर अवश्य गहराई से विचार करना चाहिए। क्योंकि उनके जैसे अधिकारी इस दूरी को पाटने के लिए सारे जीवन संघर्षशील रहे और ये दूरी आज एक नई तरह से हमारे बीच

प्रकट हो रही है। हम देख रहे हैं कि पिछली कई दुविधाओं और कई विडम्बनाओं को बहुत ज्यादा दूर किए बगैर हम राज्य का अपना एक नया समर्पण देख रहे हैं और शिक्षा स्वयं इस समर्पण में शामिल है और उसका औजार बन गई है। किसके सामने समर्पण है? ये एक नई आर्थिकी के सामने समर्पण है जो कि राज्य ने वरण की या ग्रहण की है तय करना बहुत कठिन है। जिसके चलते राज्य अपने ही कई मूल्यों को लगभग भूल सा गया है। ऐसा लगता है जैसे राज्य के ढांचे में वो चिह्न भर मौजूद हैं और उनकी याद दिलाने वाले अधिकारी भी नहीं हैं। क्योंकि जैसा कि आप उस आरती वाले दृश्य में देख रहे हैं। राज्य के इस ढांचे में सिर्फ सच बोलना संभव नहीं है। आपको सच को इस तरह से बोलना होगा कि वो आपसे ज्यादा ताकतवर व्यक्ति को चुभे ना। तो ऐसी परिस्थिति में सत्य का संपादन करना हर किसी नागरिक को सीखना पड़ता है। और वैसी संपादन कला तो अब बहुत कम रह गई है। लेकिन ये जो सामाजिक संपादन है, सांस्कृतिक संपादन है अपनी बात का, खासकर किसी ताकतवर आदमी के सामने अपनी बात का। ये संपादन तो शिक्षा छठी, सातवीं तक ही सिखा देती है कि हमें अपने से ज्यादा ताकतवर के सामने किस तरह से पेश आना है। कक्षा एक-दो में बच्चे बहुत ज्यादा बोलते हैं लेकिन अगर आप पांचवीं, छठी में जाएं तो काफी कम बोलने लगते हैं और उसके बाद उनको उकसाना पड़ता है। खासकर उस चीज के लिए उकसाना पड़ता है जो उनका मूलभूत अधिकार है- प्रश्न पूछना। अगर आप नवीं, दसवीं की किसी क्लास में बैठते हैं तो इस काम के लिए तो आपको काफी मेहनत करनी पड़ेगी कि कोई बच्चे प्रश्न पूछें। बल्कि प्रश्न पूछने के लिए भी, खासकर आगन्तुक से पूछने के लिए भी उनकी तैयारी बकायदे शिक्षक कराते हैं। कि मैडम जी हम कौनसा प्रश्न पूछें उनसे। तो ये जो पूरा बचपन का संहार है। क्या यही शिक्षा है? क्या यही शिक्षा का उद्देश्य रह गया है हमारे समाज में? जाहिर है हमको आज के इस नए दौर में जिसमें शिक्षा के क्षेत्र से राज्य अपनी कई जिम्मेदारियां अब दूसरों को दे रहा है या एक तरह से आप कह सकते हैं कि उनका विसर्जन कर रहा है और अपने ढांचे को थोड़ा सा हल्का बना रहा है। यह एक नई विचारधारा के तहत या एक नई विश्व योजना के तहत हो रहा है या ये एक सुविचारित प्रयास है जो कि हमारे राज्य को अधिकारियों के बोझ से मुक्त करेगा। समुदाय और समाज में भागीदारी बढाएगा। ये तमाम अत्यंत दुविधाजनक प्रश्न हैं। जिनके कोई निश्चित उत्तर नहीं दिए जा सकते हैं। लेकिन जितना दिख रहा है वो यही है कि राज्य जैसा भी था, वो एक भारी-भरकम बेगाना निर्वैयक्तिक राज्य था। वो राज्य भी आज हमारे बीच उस तरह से नहीं रहा। और जो उसका स्थान ले रही शक्तियां हैं उनमें पैठ पाना हमारे लिए पहले से भी ज्यादा कठिन है। राज्य से भी ज्यादा कठिन है आज किसी प्राईवेट विश्वविद्यालय के द्वारा लिए गए निर्णयों के बारे में कोई जानकारी ले पाना। क्योंकि राज्य से तो कोई जानकारी लेने का अधिकार हम को इस प्रदेश के ही एक बहुत बड़े गैर सरकारी संगठन ने दिलवा दिया कि सूचना का अधिकार अब तुम्हारे पास है राज्य अब कोई चीज गुप्त नहीं रख सकता। लेकिन आप किसी प्राईवेट स्कूल या प्राईवेट विश्वविद्यालय से कोई सूचना ले पाएं ये काफी जोखिम भरा काम है और आप अगर उनके विधान देखें तो वो सभी विधान लगभग एक जैसे हैं। उनमें नियुक्त कोई शिक्षक भी यह नहीं जान सकता कि उसके सहयोगी को कितनी तनख्वा मिलती है, तो आपको जानने का क्या अधिकार है। तो ऐसी स्थिति में राज्य ने ये जो पूरा एक समानान्तर ढांचा बनाने का आदेश दिया है या उसकी अनुमति दी है। इसमें हमको जो पूराने प्रश्न थे राज्य और समाज की दूरी के उनको नए सिरे से पढ़ना होगा। क्योंकि ये जो पूरी नई व्यवस्था है, ये व्यवस्था सिर्फ शिक्षा की नहीं है। और वो सिर्फ शिक्षा के प्रश्नों का संधान करके समझी भी नहीं जा सकती। वो नई व्यवस्था संस्कृति में भी बड़े गहरे परिवर्तनों के साथ आगे बढ़ रही है। जो एक फिजूल खर्ची से थोड़ा परहेज करने वाला समाज था, जिसमें गांवत्व का अर्थ ही था कि हम कम से कम संसाधनों में गुजारा करेंगे। अनुपम मिश्र का बहुत-सा लेखन इसी विषय पर है। उनकी एक सबसे मशूहर क्लासिक कृति का तो शीर्षक ही है कि वो बूंदे जिनको हम संरक्षित करते हैं वो रजत बूंदें है। उनका भी संरक्षण करने का मूल्य बोध समाज में रहा है। उस समाज को आज फिजूल खर्ची के लिए न केवल विवश किया जा रहा है बल्कि फिजूल खर्ची ही आगे बढ़ने का प्रतीक बन चुकी है। कि अगर बहुत-सी चीजों का इस्तेमाल नहीं करते, उनको खरीद कर फेंक नहीं देते तो आपकी हैसियत कोई बहुत ज्यादा नहीं हो सकती। आप एक बड़े व्यक्ति तब ही हैं जब आप कार पार्क करते हैं कहीं पर तो उसका ड्राईवर खड़ी हुई कार में भी एयर कण्डीशनर चलाए रखे और आप उसकी कोई शिकायत ना करें। इससे ही पता लगेगा कि आप कितनी हैसियत वाले व्यक्ति हैं। इसमें पर्यावरण का, पेट्रोल का जो खर्च होना है वो आप बरदाश्त कर सकते हैं और उसका यही एक पक्ष है जो आज नजर

आता है। दूसरे पक्ष हैं अगर आप उनकी चर्चा करते हैं तो लगता है जैसे आप राष्ट्र के विकास को चुनौति दे रहे हैं या आप इतिहास को ही बदलने की कोशिश कर रहे हैं। इतिहास तो स्वयं राज्य आज बदलने की कोशिश कर रहा है और बदलता जा रहा है। जिसकी विजय नहीं हुई उसको विजय दिला सकता है। जिसने सीधे-सीधे कोई इस तरह की लड़ाई नहीं लड़ी उसको उसमें शामिल कर सकता है। तो राज्य ने एक तरीके से बड़ा ही अपना एक लचीला संस्करण बना लिया है। ये राज्य का नया लचीला संस्करण एक नई प्रकार की आर्थिकी और आर्थिक शक्तियों को प्रोत्साहन देने के लिए है और इसीलिए इसमें इतना बड़ा एक सामाजिक उत्तरदायित्व कोताही का विषय बना देने की एक आप कह सकते हैं विचारधारा साफ दिखाई देती है। शिक्षा के क्षेत्र में एक सबसे बड़ा प्रश्न कोई रहा है तो वो विषमता का ही है और वो विषमता केवल जातिगत ही नहीं है, केवल वर्गगत नहीं है। व्यवस्थाओं की भी विषमता है। जैसे राजस्थान में जहां पाठ्यपुस्तकों को लेकर इतनी हायतोबा है, इसी राजस्थान में लगभग चार-साढ़े चार सौ स्कूल ऐसे हैं जहां वो पाठ्यपुस्तकें चलती ही नहीं हैं जिन पर विवाद है। क्योंकि वो सीबीएसई के स्कूल हैं। ये सीबीएसई क्या है? ये भारत के समाज में अभिजनत्व का एक ढांचा है। जिसको हम स्वीकार करते हैं कि ये तो वो स्कूल हैं जिनमें राज्य सरकार की नहीं चलती। तो राज्य सरकार की कहां चलती है? वहां जहां वो बच्चे पढ़ते हैं जो सीबीएसई स्कूल में नहीं पढ़ सकते। तो इस तरीके से एक वर्गीय विभाजन को एक बहुत अच्छी चादर मिल गई है। जिसमें वो समेटा जा सके या छिपाया जा सके और इस स्थिति में राज्य अगर अपनी जिम्मेदारियों को पूरी तरीके से किसी को सौंप रहा है या इस अपनी जिम्मेदारी से कि वो सीबीएसई और राज्य के बोर्ड के स्कूल के अन्तर को पाटे और एक समतामुखी समाज की दिशा में आगे बढ़ता रहे। इस जिम्मेदारी से वो अगर अपने को पूरी तरीके से मुक्त कर चुका है तो ये समाज की चिन्ता का विषय ही नहीं रहा है। क्योंकि समाज स्वयं अब अपना नवोन्मुखीकरण कर रहा है। ये जो नवोन्मुखता है समाज की, ये जाहिर कि उन दिशाओं में नहीं है जिसको आप किसी दस्तावेज की मदद से समझ सके। जैसे बहुत से लोग अभी भी संविधान की मदद से भारत को समझना चाहते हैं। और परेशान होते हैं, कहते हैं कि भाई इसमें तो ऐसा-ऐसा लिख रखा है, आज के अखबार में तो वैसा-वैसा लिखा है। तो ये कैसे हो रहा है। अखबर और संविधान के बीच इतना अन्तर्विरोध कैसे है? तो थोड़ा अटपटा है पर अगर चार-छः दिन पढ ले वो अखबार तो उसको फिर सामान्य लगने लगता है। और कई प्रकार की उसमें क्षमताएं उत्पन्न हो जाती हैं। खुद लचीला बन जाता है इंसान और उसके बाद फिर उसको बहुत ज्यादा कष्ट नहीं होता अन्तर्विरोधों को देखकर, विडम्बनाओं, दुविधाओं को देखकर। और वो सोचने लगता है कि हां ये तो जीवन के अंग हैं बल्कि प्रोढत्व के लक्षण हैं। केवल युवाओं को इनसे तकलीफ होनी चाहिए। पर युवाओं को और भी कम तकलीफ होती है। इसलिए क्योंकि उनको इस इतिहास का अंदाज नहीं है जहां से भारत की यह यात्रा शुरू हुई थी कि हम उस राज्य का जिसमें जीने के लिए हमको इतिहास ने विवश किया है, हम उसका परिष्कार करेंगे। इस यात्रा में आज की युवा पीढी को किस तरह से बौद्धिक रूप से शामिल किया जाए ये शिक्षा के सबसे बड़े प्रश्नों में से एक है और शिक्षा के संकट का यह सबसे बड़ा प्रतीक है कि उसने युवाओ को उस बड़ी एक वैचारिक यात्राओं में शामिल करने का प्रयास छोड़ दिया है। ये संकट उस दूरी से ही उत्पन्न हुआ है जिससे हमने आज की इस चर्चा को शुरू किया था। और उस दूरी में निहित टकराओं से उत्पन्न होकर, बढते-बढते आज ये इतना ज्यादा गहरा गया है कि अब ये हमें उस तरह से दिखाई नहीं देता, जिस तरह से हम चीजों को बिना बहुत विश्लेषण के देख लेना चाहते हैं या एक बाइट के जरिए जैसे थोड़ी देर पहले दूर-दर्शन के हमारे एक साथी जान लेना चाहते थे कि ये संकट असल में है क्या? मैंने कहा कि आप थोड़ी देर रुक जाएं पर उनका संकट यह है कि वो नहीं रुक सकते। क्योंकि उनको पूरे दिन में बहुत सी बाइट्स लेनी है और बहुत ज्यादा वो मुझसे पूछ भी नहीं सकते क्योंकि मैं भी वरिष्ठ दिखने लगा हूं वरना वो जरूर पूछते। तो ये जो सवाल है कि हम तफसील से मिल सकें, बैठ सकें और इस गहराते हुए संकट पर विचाररत रह सकें। हल की कामना में अपने इस धैर्य को ना खो बैठें जो किसी चीज को समझने के लिए जरूरी होता है और जो शिक्षा के महानतम मूल्यों में से एक है। अध्ययन का धैर्य, विवेचन का धैर्य। यह हमें संभव बनाना होगा। भले ही राज्य स्वयं इस बाइटवादी संस्कृति के प्रति समर्पित हो चुका है। और इसलिए जगह-जगह हमको ऐसा लगता है जैसे प्रतिदिन खर्च होने वाली चीजों का मलबा ही दिखाई देता है जब हम इस तरह से सोचने लगे हैं और लगातार यह डर बना रहता है कि ये मलबा इतना बड़ा ढेर न बन जाये कि वो एकदम गिर पड़े और हम उसके नीचे ही कुचल जाएं। जैसा कि दिल्ली में कल हुआ या कई कई जगह होता ही रहता है।

हमें पूछना होगा कि भई इस मलबे का मालिक कौन है? हालांकि मोहन राकेश ने इस शीर्षक से कहानी लिखी थी जो कि विभाजन से संबंधित थी लेकिन आज ये जो मलबा है या मलबावादी संस्कृति है जो मलबे में निरंतर योगदान दे सकने को ही हैसियत का प्रतीक बनाती है। इस संस्कृति को केवल यह कहकर खारिज नहीं कर सकते कि ये इन लोगों की संस्कृति है क्योंकि ये हमारी भी संस्कृति है। हम इस संस्कृति में अंततः अब बराबर हो गए हैं, अब गांवों और शहर का अन्तर मलबावादी संस्कृति ने पाट दिया है और ये ही उस संकट का हमको रास्ता दिखाता है। जो सिर्फ शिक्षा में देखने पर नहीं निकलेगा और इस अर्थ में ही मैं समझता हूं कि आज जिन तीन व्यक्तित्वों को याद किया उनका बहुत विस्तारवादी रवैया या चिंतन हमें दोहराना चाहिए। यानी जाप की तरह नहीं बल्कि उनको समझने की कोशिश करनी चाहिए। तब संभव है कि हम इस दौर से स्वयं को सुरक्षित रखते हुए गुजर सकें। और समाज की इस दौर से पैदा हुई पीड़ा को, कुचलन को जिसमें से बहुत सी कुचलन काफी पुरानी है जैसे जाति की कुचलन गई नहीं है, स्त्री की कुचलन खत्म नहीं हो गई है अचानक। बाल विवाह कोई निपट नहीं गए हैं कि अब कोई नहीं करता है। ये सारी चीजें हमारे बीच थीं, मौजूद हैं लेकिन हम अब एक नए विचलन से गुजर रहे हैं। इस विचलन से गुजरते हुए हम अपनी पुरानी दुविधाओं और विडम्बनाओं को भी याद रख सकें और इस विचलन को पैदा करने वाली नई और बहुत नई और बहुत ताकतवर और आप कह सकते हैं कि कई अर्थों में बहुत दुनिया में फैली हुई जो बहुत सहयोगी संस्कृति बनी है इन ताकतों की उनसे भी पेश आ सकें। ये एक बहुत बड़ा अरमान है और ये अरमान जाहिर है शिक्षा के लिए ही एक बहुत बड़ी चुनौति बनता है। क्योंकि समाज में शिक्षा क्या है। अगर आप उस तरह से देखें तो शिक्षा कुछ नहीं एक चौपाल है। एक जगह जहां बैठकर आप विचार कर सकते हैं। स्कूल अंततः और कुछ नहीं है बल्कि विश्वविद्यालय भी और कुछ नहीं है सिवाय एक जगह के, जहां सोच सकने की, बोलने की, विचार-विमर्श की आजादी ही सबसे बड़ा मूल्य है। आप देखते हैं कि वो आजादी भी आज काफी संकट में है। स्वयं विश्वविद्यालय में आज ऐसी परिस्थिति नहीं है कि आप आराम से बात कर सकें, बोल सके और प्रतिस्पर्द्धी संवाद सुन सकें और उस संवाद को लगातार प्रचारित करने वाले के भीतर भी यह धैर्य पैदा कर सकें कि वो दूसरों की बात भी सुन सके। तो जाहिर है संवाद का स्थान प्रचार जब ले ले तो शिक्षा की संस्थाओं के लिए जो जगह है, वो स्वयं जो जगह होती है, अनिवार्य रूप से आप कह सकते हैं स्वतंत्र होती है वो खतरे में पड़ जाती है। शिक्षा और प्रचार के बीच ये बहुत बड़ा अन्तर है। और जो बाल केन्द्रित शिक्षा के लिए एक बहुत बड़ी चुनौति तो है ही। बाल केन्द्रित शिक्षा प्रचार नहीं है वो तो बच्चे की सोच को ही एक अवसर देने का, उस सोच को अभिव्यक्ति देने का एक साधन है। ये अपने-आपमें एक बड़ा सांस्कृतिक उद्देश्य है, जिसे आज हम श्री अनिल बोर्दिया की पुण्य तिथि पर न केवल स्मरण का विषय बनाते हैं बल्कि एक सामूहिक, समग्र सोच का और इससे जुड़ी हुई भावना का, जो किसी एक शपथ को ले लेने से नहीं व्यक्त की जा सकती। एक ऐसे युग में जहां हर चीज एक बाइट बन जाती है, वहां हर संकल्प एक शपथ बन जाता है। जैसे अभी आज सुबह आपने 'टाईम्स ऑफ इण्डिया' में देखा होगा जो खुद मलबावादी संस्कृति का एक बहुत बड़ा अड्डा है कि पता नहीं कितने हजार लोगों ने सूख गई नदियों को बहाल करने की शपथ ली। इस तरह की शपथों में शिक्षा के संकटों का मोचन निहित नहीं है। क्योंकि शिक्षा अंततः विचार मांगती है, विचार का समय मांगती है और विचार के लिए एक मुक्त जगह मांगती है।

धन्यवाद! ◆

(यह व्याख्यान श्री अनिल बोर्दिया स्मृति व्याख्यान माला के तहत राजस्थान प्रौढ़ शिक्षा समिति, जयपुर में दिया गया था। शिक्षा विमर्श को उपलब्ध करवाने के लिए हम प्रौढ़ शिक्षा समिति के अध्यक्ष व शिक्षाविद श्री रमेश थानवी के आभारी हैं।)

लेखक परिचयः जाने-माने शिक्षाविद्, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद् के पूर्व निदेशक और दिल्ली विश्वविद्यालय के केन्द्रीय शिक्षण संस्थान से सेवानिवृत्त।